संपादकीय

मुखियई के जुनून : 'चुनना' बनाम 'चुनवाने' का द्वंद्व

चुनने की जरूरत आदिम काल से रही है। जहाँ सारे अच्छे हों, वहाँ भी और जहाँ सारे ही ख़राब हों, वहाँ भी - दोनों जगह असमंजस की स्थिति का सामना करना पड़ता है कि नागनाथ और साँपनाथ में से किसे चुना जाए? पुराने ज़माने के स्वयंवर में राजकुमारियाँ मनपसंद वर चुनती थीं, पर वहाँ भी अपने को किसी तरह चुनवाने की इच्छा रखने वाले वर लोग कम नहीं पहुँचते थे। यही नहीं, अपना वरण करवाने के लिए क्या-क्या नहीं करते थे। पौराणिक कथा के अनुसार, आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत रखने में सफल रहने वाले देवर्षि नारद को विश्वमोहिनी के अद्वितीय सौंदर्य के पान की चाहत में उपहास का पात्र बनना पड़ा था। यह तो भगवान विष्णु ही थे, जिन्होंने वानर का सिर देकर नारद के ऋषत्व की रक्षा की, भले ही नारद का शाप उन्हें उठाना पड़ा कि जिस तरह विश्वमोहिनी का विरह-विछोह नारद को झेलना पड़ा, उसी तरह भगवान विष्णु को भी झेलना पड़ेगा। श्रीहरि ने इसे रामावतार में सीता का वियोग सहकर पूरा किया।

आधुनिक लोकतांत्रिक चुनाव की बुनियाद भी 'चुनने' से अधिक 'चुनवाने' पर केंद्रित है, अतः चुनने वाले पीछे, चुनवाने वाले आगे रहते हैं; चुनने वाले कम, चुनवाने की अभीप्सा रखने वाले अधिक सक्रिय रहते हैं। फिर इसके लिए क्रियाशीलता के उताप में साम (परामर्शपूर्वक कहने), दाम (काम के बदले धन या उसका प्रलोभन देने), दंड (किसी रूप में दंडित करने अथवा दंड का भय- आतंक पैदा करने), भेद (गोपनीय जानकारी इकट्ठा करके कमजोर कड़ी पकड़ने) की नीति अपनाते हुए आक्रामकता की हद तक जाते हैं। कहते भी हैं, जंग में सब कुछ जायज होता है। जायज तो सब कुछ कभी-कहीं नहीं होता, लेकिन चुनाव भी एक जंग है - इसमें कोई संदेह नहीं। यह मैदान मारने और विरोधियों को चित करके अपना आधिपत्य सिद्ध करने का सुनहरा मौका है। इसलिए चुनाव जीतने के लिए सब कुछ किया-कराया जाता है।

लंबे समय बाद बिहार में हो रहे किसी चुनाव में रहना हुआ, पंचायत चुनाव में तो लगभग बयालीस साल बाद। जाहिर है, उस समय उम्र कम होने के कारण मतदान नहीं कर सकता था, लेकिन तब की चुनावी रंगत की कहानियाँ अविस्मरणीय हैं। उस समय उम्मीदवार पाँच सौ-हजार रुपए में आसानी से पंचायत चुनाव लड़ लेते थे और जीत भी लेते थे। खर्च का दायरा सिर्फ यहीं नहीं, बल्कि सभी चुनावों में पसरा है। महँगाई बढ़ने के साथ वैधानिक रूप से चुनाव लड़ने वालों के लिए खर्च-सीमा बढ़ानी पड़ी है, क्योंकि समाज में पैसे की आवक बढ़ी है। पहले तो बड़ी पार्टियों की बैठकों में चाय तक का इंतजाम नहीं होता था, अब बिना नाश्ता-खाना के कोई मीटिंग पूर्ण नहीं मानी जाती। इस बार पंचायत चुनाव में पहली बार ईवीएम से मतदान हुआ, हालाँकि अन्य चुनावों - विधानसभा, लोकसभा की तरह रहने वाला 'नोटा' यानी 'नॉन ऑफ द एबव' का बटन नदारद था, क्योंकि बिहार में पंचायतों का चुनाव दलीय आधार पर नहीं होता। जब प्रत्यक्ष रूप में दलीय आधार पर पंचायतों का गठन होने लगेगा, जैसी कई बार सुगबुगाहट सुनाई देती है, तब नोटा का बटन भी स्वतः समाहित हो जाएगा। अस्तु, मुखियई और अबकी बार सरपंची का क्रेज़ इतना है कि एक पूर्व विधायक, जिन्होंने वर्तमान केंद्रीय सरकार के कैबिनेट मंत्री को विधायकी में हराया था, बाद में एम.एल.ए. का चुनाव हारने के उपरांत मुखिया का चुनाव भी हार चुके हैं। यह मुखिया बनने का जुनून तो हैं ही, साथ ही 'भागते भूत की लंगोटी भली' की तर्ज पर राजनीति में जमे रहने के लिए किसी न किसी पद पर बने रहने की तीव्र ख्वाहिश भी है; हो भी क्यों न, कोई पद नहीं तो राजनीति कैसी और राजनीति नहीं तो पद कैसा? एक-दो नहीं, ऐसे सैकड़ों उदहारण हैं, जहाँ मुखिया-सरपंच से सफर शुरू करने वालों ने एम.एल.ए., एम.पी., मंत्री पद तक पहुँचने में सफलता पाई है। गँवई राजनीति में पंचायती चुनाव का राजनीतिक से ज्यादा धनबल, बाहुबल का प्रदर्शनस्थल-प्रयोगालय बन जाना चिंतनीय है। गाँवों का विकास पंचायतों के माध्यम से करने के निमित्त भरपूर फंड देने की नीति ने कमाऊ लोगों के लिए पूंजी निवेश के साथ कमाने-खाने का अखाड़ा भी बना दिया है।

तेजी से हो रहे औद्योगिकीकरण-शहरीकरण के बावजूद गाँवों की आबादी अब भी शहर से दोगुनी है। इस प्रकार परंपरागत भारत तो गाँवों में है, इसलिए चाहे समाज के विकास की बात हो या फिर देश-राज्य के विकास की शृंखला हो, बिना गाँवों के सर्वांगीण विकास के यह परवान चढ़ ही नहीं सकती। शिक्षा, स्वास्थ्य-चिकित्सा, औद्योगिक विकास और उससे उत्पन्न रोजगार के मामले में गाँव शहर से पीछे नहीं, बहुत पिछड़े हैं। इस बार का पंचायती चुनाव ज्यादा कशमकश लिए हुआ है, लेकिन इनके बीच जो सांस्कृतिकता और कलात्मकता का सहारा लिया गया है, वह परस्पर विरोध की लड़ाई में आत्मीयता, रागात्मकता का संचार करती है। फ़िल्मी गीतों, भजनों, कीर्तन की तर्ज पर बने गानों का संदेश अपने-अपने पक्ष में वोट डलवाना तो होता है, पर कटुता, विरोध, विद्वेष के माहौल को ये मानवीयता का संस्पर्श प्रदान करते हैं। ध्वनि युद्व में रक्षा-प्रतिरक्षा और प्रहार के सिलसिले में लाउडस्पीकरों की अखंड गड़गड़ाहट की कर्कशता को काम करके मिठास घोलते हैं और अंततः वातावरण को सद्भावनापूर्ण बनाने में अपना योग देते हैं। खैर, चुनाव संपन्न हो चुका है और मुखिया, सरपंच निर्वाचित हो चुके हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है कि मुखिया या प्रधान चाहे घर-परिवार का हो या पंचायत, राज्य या देश का, उसे मुँह के समान सब कुछ स्वयं ग्रहण करके भी सभी अंगों तक समान रूप से खाने का हिस्सा भेजना चाहिए, बिना किसी भेदभाव के सारे अंगों की परवरिश करनी चाहिए -

मुखिया मुख सों चाहिए, खान-पान को एक।
पालै पोसै सकल अंग, तुलसी सहित विवेक।।

जाहिर है कि मुख के माध्यम से खाया जाता है, पर विटामिन-ऊर्जा की आपूर्ति सभी अंगों को होती है, भले स्वाद सिर्फ जीभ लेती है और इसी स्वाद के चक्कर में कई बार ऐसी-वैसी चीज भी खा ली जाती है, जो सुपाच्य नहीं होती, स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद होती है। शुगर की समस्या के साथ शरीर किसी हिस्से में घाव हो, तब वहाँ भी मुख के माध्यम से खाई वस्तुओं की 'अस्वास्थ्यकर पौष्टिकता' पहुँचकर दिक्कत पैदा करती है। इसलिए जिन्हें शुगर की बीमारी हो, किसी वस्तु-विशेष से एलर्जी हो, हाजमा ख़राब हो या व्रत-उपवास, परहेज रखना जरूरी हो, उन तक सोच-समझ कर ही आपूर्ति होनी चाहिए। स्वयं उन्हें भी इस बात के प्रति विशेष सचेत रहना चाहिए। लेकिन सवाल यह भी है कि क्या इसका बोध सबको, सभी अंगों को हो सकता है? और बोध हो भी जाए तो क्या वे परहेज कर पाएँगे? दूसरी ओर, आपूर्तिकर्ता या मुँह चाहकर भी अन्य अंगों तक आपूर्ति रोक सकता है? स्पष्ट है कि नहीं, वह ऐसा कदापि नहीं कर सकता, वह तो केवल अपना धर्म निभा सकता है और निभाता है। उसके लिए भी समस्या है कि वह खुद भोजन को रखकर पचा नहीं सकता। जानबूझकर या भूल से कुछ कण मुँह में रह जाता है तो वह बास उत्पन्न करता है। तुलसी का नीतिगत कथन मुखिया में अपेक्षित गुणों को इंगित करने के लिए है, परंतु वर्तमान समय में ऊपर से नीचे तक व्याप्त भ्रष्टाचार के संदर्भ में भी यह सोचने को मज़बूर करता है कि भ्रष्टाचार कौन कर रहा है, किसे उसका हिस्सा मिला और किसे नहीं मिला या किसने नहीं लिया?